THE ECONOMIC TIMES

Date: 14-06-18

Use Existing Powers, RBI, to Seek More

ET Editorials

The RBI governor Urjit Patel has soght more legislative powers to effectively regulate state-owned banks. His plea to the Parliamentary Standing Committee on Finance to make banking regulatory powers ownership-neutral makes sense. The RBI should be able to exercise the same supervisory powers over state-owned banks as over private sector banks. The reform will enable the regulator to take legal action against any errant PSB, level the playing field between private and public sector banks and raise corporate governance. The RBI should also stop the practice of appointing its nominees on the boards of PSBs, given that there is a conflict of interest with its supervisory role. The regulator is in talks with the government on this issue, and that's welcome. The RBI's remit should be in charge of bank supervision, and not operations.

In its 2017 Financial Sector Assessment Programme (FSAP) of India (2017), the IMF had raised concerns over weaknesses in the independence of the RBI. The regulator, for example, does not have the powers to remove PSB directors or management, appointed by the government. It cannot force a merger or trigger a liquidation of PSBs, and also has limited legal authority to hold PSB boards accountable when it comes to strategic direction, risk profiles, assessment of management and compensation. It recommended a strategic plan for consolidation, divestment and privatisation of state-owned banks.

The RBI must exercise the powers it already has, especially that of moral suasion. It also needs to improve skill sets of its supervisors and create domain specialists with legal, banking and audit backgrounds. Lateral entry into the RBI should be encouraged to draw in the best talent for supervision. A revolving door policy can also work, if done right.

दैनिक भास्कर

Date: 14-06-18

नौकरशाही में बदलाव का सबसे बड़ा फैसला

यदि प्रशासनिक दक्षता की बजाय विचारधारा, जाति-धर्म के आधार पर लेटरल एंट्री होने लगी तो दुर्भाग्यपूर्ण होगा।

प्रेमपाल शर्मा

केंद्र सरकार के ताजा निर्णय ने भारतीय नौकरशाही में खलबली मचा दी है। निर्णय है सरकार के संयुक्त सचिव स्तर के पदों पर बाहर से भी प्रतिभाओं को नियुक्ति देना यानी लेटरल एंट्री के दरवाजे खोलना। लगभग पच्चीस केंद्रीय सेवाओं में हजारों पद हैं। हो सकता है आने वाले वक्त में राज्य सरकार और अन्य उपक्रमों में समान पदों पर भी 'लेटरल एंट्री' की शुरुआत हो। भारतीय नौकरशाही में बदलाव का यह आज़ादी के बाद का सबसे बड़ा और गंभीर फैसला है। सरकार के विचाराधीन इतना ही महत्वपूर्ण विचार यह है कि चयनित अधिकारियों को उनके विभागों का आवंटन केवल यूपीएससी के अंकों के आधार पर ही नहीं किया जाए बल्कि प्रशिक्षण प्रक्रिया के दौरान जाहिर हुई उनकी क्षमताओं, अभिरुचियों आदि को मिलाकर हो, जिससे प्रशासन को उनकी योग्यता का पूरा लाभ मिल सके।

पहले बात 'लेटरल एंट्री' की। भारतीय प्रशासनिक सेवाएं ब्रिटिश कालीन आईसीएस (इंडियन सिविल सर्विस) की लगभग नकल है। आज़ादी के वक्त इसकी जरूरत भी थी। आईसीएस का ढांचा ब्रिटिश शासकों के हितों के अनुकूल था लेकिन, आज़ादी के वक्त विभाजन से लेकर सैंकड़ों समस्याओं के मद्देनज़र बिना मूलभूत परिवर्तन के इसी 'उपनिवेशी' ढांचे को स्वीकृति दे दी गई। अफसोस है कि उम्र, परीक्षा प्रणाली, विषय बदलने के अलावा इसमें कोई बड़ा परिवर्तन आज तक नहीं हुआ। एक बेहद लुंज-पुंज व्यवस्था, भ्रष्टाचार, असंवेदनशीलता व हाथी जैसे आकार की नौकरशाही के रूप में नतीजा सामने है। ज्यादा दोष राजनीतिक स्वार्थों का है, जिसमें उपनिवेशकालीन बुराइयां तो बनी ही रहीं, नए राष्ट्र के वंशवाद, भ्रष्टाचार अनैतिकताएं भी राज्यों के उत्तरदायित्वों से पिंड छुड़ाकर इसमें शामिल होती गईं।

मौजूदा उच्च नौकरशाही में भर्ती यूपीएससी द्वारा होती है। नि:संदेह यह देश की सबसे कड़ी तीन स्तरीय परीक्षा है। 2017 में दस लाख से ज्यादा परीक्षार्थियों में से लगभग एक हजार चुने गए। इनकी मेरिट और प्राथमिकता के आधार पर इन्हें भारत सरकार के पच्चीस विभागों, प्रशासन, पुलिस, विदेश, राजस्व, व रेलवे आदि में बांट दिया जाता है। यही अफसर अपनी पदोन्नति के क्रम में अपनी-अपनी सेवाओं के उच्चतम स्तर निदेशक, ज्वॉइंट सेक्रेटरी, सेक्रेटरी, बोर्ड मेम्बर आदि पदों पर पहुंचते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर इसमें 'बाहरी परिन्दा पर भी नहीं मार सकता'। आपस में अस्थायी आवाजाही जरूर होती है, जिसे 'डेपुटेशन' माना जाता है।

अब नए निर्णय के अनुसार उच्च पदों पर सरकार देश की उन प्रतिभाओं को भी नियुक्त कर सकती है, जिन्होंने यूपीएससी की परीक्षा पास नहीं की। वे निजी क्षेत्र, विश्वविद्यालय, सामाजिक, आर्थिक विद्वान, जाने-माने इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक, लेखक, कलाकार, पत्रकार कोई भी हो सकता है। ये देश-विदेश में बिखरीं वे प्रतिभाएं होंगी, जिन्होंने अपने क्षेत्रों में ऊंचाई पाई है, परिवर्तन के प्रहरी बने हैं। सरकार यह दरवाजा खोलकर उनकी प्रतिभा, क्षमता का इस्तेमाल पूरे राष्ट्र के परिवर्तन के लिए कर सकती है। उदाहरण के लिए सूचना प्रौद्योगिकी के धुरंधर नंदन नीलेकणी जिनका आधार कार्ड का विचार देश के लिए सार्थक साबित हुआ। यदि ये प्रतिभाएं यूपीएससी में नहीं बैठीं तो उन्हें सदा के लिए राष्ट्रहित की नीतियों से वंचित नहीं करना चाहिए। यदि कश्मीर या लद्दाख के दुर्गम पहाड़ों में रेल चलाने के लिए ऐसे इंजीनियर उपलब्ध हैं, जिनके अनुभव से दुनिया को फायदा हुआ है तो भारत सरकार या रेल विभाग में उनका योगदान क्यों न हो? क्यों संस्कृति, शिक्षा मंत्रालय को उस संयुक्त सचिव या सचिव के सुपुर्द कर देना चाहिए, जिसकी पूरी उम्र किताब, कला, नृत्य, नाटक या विश्वविद्यालय से वास्ता ही नहीं रहा हो? नौकरशाह इनसे सीखेंगे और ये लोग सरकार से।

ऐसा नहीं है कि 'लेटरल एंट्री' इस सरकार का कोई मौलिक विचार है। मौलिकता निर्णय लागू करने में है। छठे वेतनमान आयोग ने 2008 में भी 'लेटरल एंट्री' का विचार दिया था। नब्बे के बाद शुरू हुए उदारीकरण की हवा ने परिवर्तन के

रास्ते खोले। स्टार्टअप, निजी उद्योग और सूचना क्रांति ने यह साफ किया कि जितनी तेजी से विश्व व्यवस्था बदल रही है, भारतीय नौकरशाही नहीं। बल्कि राजनीतिक दुरभिसंधियों के चलते भारतीय नौकरशाही दुनिया की 'भ्रष्टतम, कामचोर, अक्षम, असंवेदनशील व्यवस्था हो गई। इसकी क्षमता में सुधार 'लेटरल एंट्री' जैसी प्रक्रिया से ही संभव है! मौजूदा नौकरशाहों को जब निष्पक्ष, साहसी, निर्णयात्मक नौजवान साथियों, संयुक्त सचिवों से चुनौती मिलेगी तो ये अजगर भी बदलेंगे। वरना अभी तो यदि एक बार ये चुन लिए गए तो नब्बे प्रतिशत बिना अपनी प्रतिभा, दक्षता को आगे बढ़ाए भी उच्चतम पदों पर पहुंच जाते हैं और फिर रिटायरमेंट के बाद लाखों की प्रतिमाह पेंशन। यूपीएससी से चुने जाने का दंभ अलग। यही कारण रहा कि यूपीए सरकार भी इन्हीं नौकरशाहों और विशेषकर इनके जातीय संगठनों के दबाव में चुप्पी साधे रही। हालांकि, यूपीए सरकार की कई हस्तियां प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह, मनटेकसिंह आहलूवालिया समेत कई मुख्य आर्थिक सलाहकार, सेक्रेटरी विज्ञान और तकनीकी मंत्रालयों में पिछले दरवाजे से ही सरकार में शामिल होते रहे हैं। कई यूरोपीय देशों में यह मॉडल पूरी सफलता से चालू है।

नौकरशाही के पुरोहितवाद की इमारत को पहली बार पूरे साहस के साथ धक्का मारा गया है लेकिन, मामला बहुत जटिल है। यदि प्रशासनिक वैज्ञानिक दक्षता की बजाए 'विचारधारा', जाति, धर्म, पंथ विशेष के आधार पर लेटरल एंट्री होने लगी तो यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण होगा। क्या यूपीएससी जैसी निष्पक्ष संस्था को यह काम सौंपा जाएगा, जो सामाजिक परिवर्तनों की आहटों को समझते हुए ऐसे अधिकारियों को तैनात करे? उम्मीद की जानी चाहिए यह नियुक्ति पूरक के तौर पर तीन या पांच वर्ष जैसी अवधि के लिए होगी। एक परिवर्तन इसी समय यह लागू किया जाए कि सभी नौकरशाहों की पदोन्नति एक क्षमता परीक्षा से ही हो और उन्हें भी साठ वर्ष की निश्चित सेवा अवधि से पहले भी आज़ाद कर दिया जाए। सेना में यही होता है। मौजूदा नौकरशाही की सबसे बड़ी कमी अतिरिक्त सुरक्षा बोध, नौकरी की गारंटी है। नौकरशाही में यह बदलाव क्रांति से कम नहीं है। मगर आप जानते हैं कि यदि क्रांति सही हाथों में न हो तो क्या होता है। सभी क्रांतियां सफल भी नहीं होती हैं फिर भी इस परिवर्तन का स्वागत है।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 13-06-18

सत्ता की आस में लुटे दलित

डॉ. उदित राज

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने सत्ता को वह कुंजी बताई थी, जिससे सारे ताले खुल जाते हैं। उस समय की परिस्थितियों के अनुसार काफी हद तक सत्ता सभी क्षेत्रों को नियंत्रित करती थी, लेकिन अब परिस्थितियां बदल गई हैं। वोल्सेविक क्रांति के बाद दुनिया के तमाम देश साम्यवादी होते जा रहे थे और वहां राजसत्ता सब कुछ नियंत्रित रखती थी। यूरोपीय देशों में भी राजसत्ता काफी प्रभाशाली रही। कांशीराम जी ने जब बहुजन समाज पार्टी बनाई तो लक्ष्य इतना बड़ा रखा कि उसको हासिल करना आसान नहीं था। बामसेफ से लेकर बीएसपी तक लोगों से

कहते रहे हम सत्ता में आएंगे तो समस्याओं का समाधान अपने आप हो जाएगा। समर्थक भी विास करते हुए काम करने लगे और उत्तर प्रदेश में सरकार भी बनाई। यदि कोई और दूसरा सामाजिक राजनैतिक कार्य करने की कोशिश किया तो उसे बदनाम ज्यादा होना पड़ा कि बसपा को सत्ता में आने से रोकने का षड्यंत्र है।

निजीकरण, ठेकेदारी, आउटसोर्सिंग, अत्याचार, शिक्षा, स्वास्थ और महंगाई आदि की बात करने वाला अम्बेडकरवाद और बसपा विरोधी माना जाने लगा। बसपा का प्रभाव 1990 के दशक में शुरू होता है और वही समय था जब निजीकरण की शुरु आत हुई। नरसिम्हा राव की पहली सरकार थी, जिसने निजीकरण की शुरुआत की और धीरे-धीरे गति तेज हो गई। ठेकेदारी प्रथा और आउटसोर्सिंग जैसे तरीके अपनाकर सरकारी नौकरियां खत्म की जाती रही । मंडल कमीशन लागू होने के बाद एक मुहीम चल गई कि सरकारी विभाग निकम्मे और भ्रष्ट हो गए हैं इसलिए समस्याओं का समाधान निजीकरण है। 1993 में कोलेजियम सिस्टम के द्वारा उच्च न्यायपालिका में जजों की नियुक्ति होने लगी जिससे परिवारवाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद बढ़ा। अभिजात्य वर्ग ने इस असंवैधानिक कार्य के खिलाफ कुछ नहीं किया क्योंकि यह उनके हित में था। संविधान में कहीं भी प्रावधान नहीं है कि जज ही जज को बनाएंगे। राजनैतिक दल गरीब, दलित, आदिवासी और पिछड़ा के खिलाफ नीति योजना स्वयं तो विरोध में बनवा नहीं सकते थे तो वह कार्य न्यायपालिका से करवाने लगे।

सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिए गए मंडल जजमेंट में अनुसूचित जाति का आरक्षण विषय नहीं था फिर भी जजों ने अपनी राय रखी, जिससे पांच आरक्षण विरोधी आदेश 1997 में जारी हुए। अनुसूचित जाति/जनजाति परिसंघ ने संघर्ष किया और अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार ने तीन संवैधानिक संशोधन करके इसे ठीक किया। यहां तक की 2007 में बहन मायावती मुख्यमंत्री बनीं, तब उनकी सरकार में अनुसूचित जाति/जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 में बड़ा संशोधन किया कि इस कानून का प्रयोग हत्या और बलात्कार में होगा, तब परिसंघ ने इलाहबाद हाईकोर्ट में याचिका दायर कर उस निर्देश को निरस्त कराया। पदोन्नित में आरक्षण का मुकदमा परिसंघ की पैरवी से 2006 में सुप्रीम कोर्ट में जीता जाता है और जब मायावती मुख्यमंत्री थी तो 4 जनवरी 2011 को लखनऊ हाईकोर्ट में पदोन्नित में आरक्षण इसलिए खत्म कर देती है कि उसकी पैरवी ठीक से नहीं हुई। स्पेशल कंपोनेंट प्लान, ट्राइबल सब प्लान कभी ईमानदारी से लागू नहीं किया गया। इस पर कभी कोई आवाज इनके तरफ से नहीं उठी। कार्यालय आदेशों से आरक्षण लागू होता रहा है, जबकि इसे कानून के शक्ल में बदल देना चाहिए था, लाखों खाली पद केंद्र सरकार से लेकर राज्य सरकार में लगातार खाली रहे हैं।

उच्च न्यायपालिका में दलितों और पिछड़ों की भागीदारी नहीं के बराबर रही। सत्ता के सपने में दलित उपरोक्त भयंकर नुकसान को समझ नहीं पाया और बस एक ही धुन में लगे थे कि सत्ता आएगी तो सब ठीक हो जाएगा। नेतृत्व ने सोचने ही नहीं दिया कि जो अधिकार एक दिन में नहीं मिलते और ये रोजमर्रा के हिसाब से मिलते और छीनते भी हैं। अगर इस सोच के आधार पर चले होते तो उपरोक्त समस्याओं को लेकर संसद से सड़क तक जैसे अन्य पार्टयिां अपने मुद्दे पर लड़ती, ये भी लड़े होते। कितनी बड़ी त्रासदी है कि जब दलित आधारित पार्टी बनती है तो सामानांतर अधिकार छीनते जाते हैं और वह पार्टी बूथ स्तर पर सक्रिय होकर सांसद -विधायक बनाने में ही मस्त रहती है। सोच का अभाव कहें या स्वार्थ कि यह सोचना चाहिए था कि राजसत्ता कमजोर हो गई है, कुछ ताकत मीडिया के पास तो कुछ उच्च न्यायपालिका और कॉपरेरेट जगत के पास। सुप्रीम कोर्ट के दो जज का फैसला देश का कानून बन जाता है, जबकि संसद में कानून बनाना विधेयक पारित कराना बड़ी मुश्किल का काम है। हमारे ही देश में कुछ ऐसे वर्ग हैं, जो राजसत्ता में

स्वयं ही सीधी भागीदारी नहीं चाहते फिर भी अपनी बाते मनवाते रहते हैं। दलितों को यह समझ लेना चाहिए कि जाति व्यवस्था खत्म होने वाली नहीं है।

जाति व्यवस्था की मानसिकता यह होती है कि अपने से नीचे वाले को स्वाभाविक रूप से अपना नेतृत्व नहीं मानता, मजबूरी और स्वार्थ में तो कुछ भी होता रहता है। ब्राह्मण अपने को तीनों वर्णो से ऊपर समझता है, क्षत्रिय अपने से नीचे पिछड़ा वर्ग एवं दलित का नेतृत्व नहीं सह सकता। पिछड़ा अपने से नीचे दलित के साथ भी यही सोचता है और ऐसे में मजबूरी और खुदगर्जी न हो तो दलितों का और कोई नेतृत्व स्वीकार नहीं करेगा। इन परिस्थितयों में क्या दलित सत्ता पर काबिज हो सकेगा। पिछड़ा वर्ग अभी न इधर का है और न उधर का। ऐसे में जब तक सत्ता नहीं मिलती तो क्या सब कुछ खो दिया जाए? जितनी ताकत समाज ने बसपा को दी, अगर उसका एक चौथाई भी मुझे दिया होता तो अधिकार छीनने की बजाय और ज्यादा मिला होता। कम ताकत मिलने के बावजूद; मेरी उपलब्धियों की सूची लंबी है। बाबा साहेब के हाथ में खुद सत्ता नहीं थी, तब कैसे इतने अधिकार दिला सके? सत्ता की प्राप्ति की लड़ाई लड़ते रहना चाहिए। सड़क पर संघर्ष लगातार जारी रहे और अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को रोकना नहीं बल्कि कहना चाहिए कि संसद और विधानसभा में लगातार मुद्दों को उठाएं।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 13-06-18

समझौते से बनती हमारी उम्मीदें

शशांक, पूर्व विदेश सचिव

साढ़े छह दशक के बाद यह पहला मौका था, जब उत्तर कोरिया और अमेरिका के शासनाध्यक्ष बातचीत की मेज पर थे। मंगलवार को सिंगापुर के सेंटोसा द्वीप पर अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप और उत्तर कोरियाई शासक किम जोंग-उन की यह मुलाकात बता रही थी कि दोनों मुल्क 1950-53 की कोरियाई जंग से बहुत आगे निकल आए हैं। हालांकि बीते कुछ महीनों में ऐसे कई मौके भी आए, जब लगा कि दोनों के बीच तकरार चरम पर पहुंच गई है। एक-दूसरे को 'देख लेने' के स्तर तक बयानबाजी की गई, और बातचीत रद्द कर दिए जाने का बाकायदा ट्विटर से एलान कर दिया गया। मगर मंगलवार को दोनों नेताओं की गर्मजोशी यह संकेत दे रही थी कि बीते दिनों के तमाम 'मतभेद' संभवत: बातचीत की तैयारी के पहलू थे।

यह मुलाकात उम्मीद से कहीं अधिक सफल रही है। इसकी सफलता इन दोनों नेताओं के लिए जरूरी थी। अमेरिका के लिए यह सिर्फ विदेश नीति का मसला नहीं था। इसकी सफलता उसकी घरेलू नीति से भी जुड़ी हुई है। राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप परंपरा से हटकर चलने के हिमायती हैं। उनकी मंशा यही रही होगी कि जो उपलब्धि अमेरिका के किसी पूर्व राष्ट्रपति ने हासिल नहीं की, वह उनके खाते में आए। बैठक की विफलता उनकी घरेलू सियासत पर बुरा असर डालती। उनके लिए जरूरी था कि अगले चुनाव आने तक वह सफलता की सीढ़ी चढ़ते दिखाई दें। इसीलिए उन्होंने किम जोंग-उन को वार्ता की मेज तक लाने के लिए साम, दाम, दंड और भेद, तमाम तरीके आजमाए।

उत्तर कोरिया को भी इस समझौते की अहमियत पता थी। उसकी आशंका यह थी कि जिन-जिन देशों ने अमेरिका की मर्जी के खिलाफ अपने परमाणु व मिसाइल कार्यक्रम विकसित किए, उनको उसका मूल्य चुकाना पड़ा है। इसका एकमात्र अपवाद दक्षिण अफ्रीका है, जिसने अपने परमाणु जखीरे को स्वयं नष्ट कर दिया था। हालांकि यह भी सच है कि अगर उत्तर कोरिया पर अमेरिका कोई सैन्य कार्रवाई करता, तो बदले में उसे भी काफी नुकसान उठाना पड़ता। संभवत: दुनिया परमाणु युद्ध का गवाह बनती। मगर तब भी खलनायक प्योंगयांग ही साबित होता। उत्तर कोरिया एक छोटा मुल्क है और वहां सुविधाएं अपेक्षाकृत कम हैं। लोगों के पास खाने के लिए नहीं है। वहां से मानवाधिकार के उल्लंघन की भी खबरें आती रहती हैं। लिहाजा किम जोंग-उन भी समझ रहे होंगे कि सिर्फ परमाणु ऊर्जा और मिसाइल विकास कार्यक्रम के बूते वह अपने देश को बहुत दूर तक नहीं ले जा सकते। उन्हें एक खतरा दक्षिण कोरिया और अमेरिका की दोस्ती में भी दिखा होगा, जिनकी ताकत कोरियाई प्रायद्वीप में बढ़ रही है। ऐसे में, यदि वह कोई सख्त रुख अपनाते, तो संभव है कि उनके लिए स्थिति और प्रतिकूल हो जाती। मंगलवार को उन्हें सफलता का एकमात्र मौका दिखा होगा।

इन पंक्तियों के लिखे जाने तक समझौते की शर्तें बाहर नहीं आई थीं, पर जिस 'कॉम्प्रिहेंसिव एग्रीमेंट' की बात पत्रकार वार्ता में दोनों नेताओं ने की, उसमें उत्तर कोरिया ने अपने परमाणु व मिसाइल कार्यक्रम को नियंत्रित करने की बात जरूर मानी होगी। यह किस हद तक हो सकेगा, इसका जवाब तो भविष्य के गर्भ में है। मगर यदि यह मौका छूट जाता, तो विश्व और खासकर एशिया में परमाणु-स्थिति बहुत नाजुक हो जाती। इस समझौते से विश्व बिरादरी ने जरूर राहत की सांस ली होगी। हालांकि जापान की चिंता अपनी जगह बनी रहेगी। उसकी परेशानी यह होगी कि यदि समझौते में उत्तर कोरिया ने सिर्फ अमेरिका को अपनी जद में लेने वाली बैलिस्टिक मिसाइलों को नष्ट करने का भरोसा दिया होगा, तब भी उसके पास ऐसी मिसाइलें बची रहेंगी, जिनसे जापान को खतरा हो सकता है। इसीलिए उसने भी ऐसी किसी प्रक्रिया में अपनी सक्रिय भागीदारी निभाने के प्रयास तेज कर दिए होंगे।

भारत ने जरूर इस समझौते में अपने लिए उम्मीदें देखी होंगी। मेरा मानना है कि उत्तर कोरिया का विश्व बिरादरी में शामिल होना दो तरह से नई दिल्ली के लिए फायदेमंद है। पहला यह कि उत्तर कोरिया अब कहीं अधिक भारत की फिक्र करेगा। दरअसल, उत्तर कोरिया और पाकिस्तान की दोस्ती का मसला काफी पहले से उठता रहा है। कहा जाता है कि उत्तर कोरिया ने परमाणु तकनीक पाकिस्तान से ही हासिल की है, जबकि बदले में उसे मिसाइल तकनीक सौंपी। परमाणु व मिसाइल तकनीक के इस लेन-देन में चीन की भी सहमति रही है। उत्तर कोरिया की पाकिस्तान की करीबी हमारी सुरक्षा को नुकसान पहुंचा सकती है। अच्छी बात है कि पिछले दिनों जब विदेश राज्य मंत्री जनरल वीके सिंह प्योंगयांग गए थे, तो वह इस भरोसे के साथ वापस लौटे कि भारत की सुरक्षा के साथ उत्तर कोरिया किसी तरह का कोई समझौता नहीं करेगा।

दूसरे हित आर्थिक हैं। उत्तर कोरिया और चीन की दोस्ती किसी से छिपी नहीं है। कई उत्तर कोरियाई नागरिक चीन की कंपनियों से जुड़े हैं और कामगार की भूमिका में हैं। चीन ने भी उत्तर कोरिया में मैन्यूफैक्चरिंग प्लांट (विनिर्माण कारखाना) बना रखा है। ऐसे में, अगर उत्तर कोरिया पर से प्रतिबंध हटता है, तो वहां पर नए अवसर बढ़ेंगे। भारत इस मौके का फायदा उठा सकता है। नई दिल्ली जहां प्योंगयांग की मदद कृषि, आईटी और दवा निर्माण के क्षेत्र में कर सकती है, तो बदले में वहां के खनिज संसाधन भी पा सकती है। ऐसे संसाधन वहां भारी मात्रा में उपलब्ध हैं, जो अब तक चीन को मिलते रहे हैं। चूंकि बीजिंग से हमारी दोस्ती परवान चढ़ रही है, इसलिए भविष्य के लिए उत्तर कोरिया से भी उम्मीद जगती है। जापान के साथ भी हमारे रिश्ते आगे बढ़ सकते हैं।

भारत से बेहतर संबंध का महत्व उत्तर कोरिया भी समझ रहा होगा। इतिहास गवाह है कि जिन दिनों उत्तर और दक्षिण कोरिया के संबंध तनावपूर्ण थे, तब भारत ने उस विवाद को सुलझाने में मदद की थी। 1961 में जिस गुटनिरपेक्ष आंदोलन का जन्म हुआ है, उसका भी एक पहलू कोरियाई जंग था। साफ है, उत्तर कोरिया पर लगे प्रतिबंध जैसे-जैसे खत्म होंगे, हमारे रिश्ते प्योंगयांग से मधुर होते जाएंगे, जिसका फायदा हमें खूब मिलेगा।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 13-06-18

The Inequality within

Adivasi agitation in northern Telangana frames a complex policy and political challenge

Editorial

The boycott of teachers from the Lambada community, a Scheduled Tribe, by a section of Adivasis in northern Telangana districts reveals an emerging faultline among social sections that avail of reservation. Major tribes in Telangana accuse the Lambadas, who are relatively better off as compared to other Adivasi groups, of cornering all the benefits of the reservation policy and want the government to exclude them from the ST category. The protests have hit tribal schools hard since a majority of teachers here are from the Lambada community.

The absence of teachers has led to poor results and raised the prospect of students dropping out. By all accounts, the Lambadas moved ahead of other tribes because they had access to education and made the most of it to find jobs in government, including as teachers. But the boycott of teachers deprives tribal children of education, the most important tool for social and economic mobility, making a bad situation worse.

Similar narratives of a single caste or tribe being accused of cornering the quota benefits have been reported from many regions across the country. For instance, the Meenas of Rajasthan have faced similar charges from other tribes. Such divisions have been reported among OBC groups as well as Dalits across the country. In the case of OBCs, political parties and the state have been more responsive to demands for positive discrimination within the reservation system. Some states have legislated subquotas within the OBC category to prevent groups that are relatively more advanced socially and educationally from monopolising reservation benefits, thereby ensuring a greater degree of equality and fairness in the policy outcome. The judiciary has also intervened through the introduction of the concept of creamy layer. However, claims of relative inequality and discrimination within the Scheduled Caste and Tribe categories have been largely ignored by the government. Bihar introduced the Mahadalit category in 2007 to protect weaker sections among the Dalits, but political exigencies subsequently led to its expansion to include every Dalit caste.

Though many Dalit communities have raised the demand for subquotas — the Madigas in Andhra Pradesh and Telangana, for instance — governments have avoided the issue. The boycott in northern Telangana lays bare the political and policy challenge for the state: Of meeting the imperative of assuring equality of opportunity to all in ways that address the special and specific needs and concerns of the most marginalised.

Date: 13-06-18

Steel Frame, More Flexible

Recently announced lateral entry of 10 joint secretaries at the Centre is a remarkable opportunity to rethink the structure of the state and what we want from it.

Milind Sohoni , Oshin Dharap , [Sohoni teaches at IIT Bombay and Dharap is a researcher.]

Every year with the onset of summer, thousands of villages across Maharashtra struggle to obtain drinking water. Temporary solutions include waiting for water tankers, buying expensive "jar" water or relocation. The immediate reason for this is the failure of an important public good — the public water supply system. Other development sectors also face a similar affliction, for example, severe malnutrition in tribal areas despite the presence of anganwadis or an inefficient public transport service. The obvious questions are: Who is responsible? And what is to be done? Every five years, political parties try to convince us that it is their party that can solve these problems. Given the complexity of the situation, it is difficult to imagine this. Moreover, constitutionally speaking, at the state level, it is unclear if they are even empowered to do so.

Partly by law and partly by tradition, the states have been governed by the Indian Administrative Services (IAS). Barring exceptions, all posts from the district collector to the secretary of a department are reserved for IAS officers. The functioning of the state machinery, from the appointment of employees to disbursement of funds, requires the explicit approval of IAS officers. However, if the state wants to initiate disciplinary action against a particular officer, it requires the permission of the central government. It is therefore very difficult for the "provincial" representatives to take any disciplinary measure against IAS officers. The recently announced lateral entry of 10 joint secretaries at the Centre, is a remarkable opportunity to rethink the structure of the state and what we want from it.

IAS officers are selected through the Civil Services Examination (CSE) conducted by the UPSC. This exam is attempted by lakhs of young people across the country from whom about 200-300 trainee officers are selected. However, there is little rigorous or sectoral training after selection. The halo around the IAS is, of course, because of their immense power, the inherent unaccountability and aura of "superior understanding" or "merit" supposedly ensured by the difficulty and selectivity of the UPSC exam. This is the "iron cage" that we have inherited from the colonial, if not the Mughal, era.

Let us now move to a typical department — the Water Supply and Sanitation Department in Maharashtra, which has more than 6,000 employees (including those employed by the zila parishad). Of these, more than 1,000 are engineers. The head of the department is the secretary, who is an IAS officer and whose typical term is of three years. As per the Constitution, the secretary is responsible for the smooth

functioning of the entire department. This includes the day-to-day running, effecting improvements in its functioning and outcomes, making suitable suggestions to the minister, etc. However, there is no guarantee that the secretary has the required training, background or expertise in water management or enterprise management. This means that the entire department must rely on the long experience across departments and the "superior understanding" of the secretary. Any reform depends on the chance that the secretary is open to inputs from his subordinate senior managers.

The outcomes of such a system are obviously patchy. As per the NSSO Survey of 2012, only 74 per cent of the rural population of Maharashtra had access to drinking water throughout the year. The Census of 2001 and 2011 too show a deterioration in large parts of the state. However, around the same time, the department reports claim that the state had 85 per cent coverage by piped water supply schemes. The secretary seemed unaware of such a major discrepancy in numbers.

Clearly, improvements in coverage and year-round access should have been the central objectives of the department. This was missed. Moreover, problems such as the drying up of groundwater sources, increasing levels of nitrate contamination in drinking water sources, and failure of major water supply schemes have been overlooked. The planning, design and test procedures being used by the engineers and geologists of the department are outdated. No thought has gone into this.

A similar situation is seen in other government departments as well. In fact, the antiquated job profiles of government servants and moribund senior administration are important reasons for a creeping privatisation and periodic freezes on state recruitments. They are also responsible for the absence of new professions, new research and smart companies in several key sectors such as water, public transport and logistics.

This calls for a drastic change in the structure of the department and the roles and responsibilities of IAS officers. The recently proposed lateral entry is one such mechanism at the Centre. We propose another at the state level. Every government department should create a new section called "Analysis and Research (AR)", which is led by an officer at the level of a deputy secretary.

The section should be adequately staffed at the division and district level and have its own guaranteed funding. The main task of the deputy secretary will be to prepare and maintain a detailed documentation of the working procedures within the department, analyse their outcomes and upgrade them, design monitoring and evaluation criteria, create a network of trusted knowledge institutions and undertake periodic and extensive evaluations, assessment and other topical research studies. In fact, the production of such periodic (say, biennial) public reports may be regarded as the chief responsibility of the deputy secretary.

Such reports will ensure that the people at large appreciate the scale of the problems and are mobilised to work towards their solution. It will also help students, researchers, funding agencies and industry to identify problem areas and come forward with possible approaches to bring improvements in the sector. In fact, the position of deputy secretary will likely attract young researchers, academics and professionals within that sector to work with the department on deputation, and such lateral entry at this and at the district level should be enabled. Through such give-and-take, the department will also forge collaborations with social and public institutions working in that sector. Without such research and knowledge sharing partnerships, it will be very difficult for the state to actually deliver on the many development needs of our people.

The roles and responsibilities of the political sphere and the administrative sphere are different. The inherent limitation of the administrative structure is an important cause of our stunted development. These difficulties cannot be overcome solely by the sincerity or hard work of political agents. What they can do is to bring about the necessary reform. And this is what we in the civil society should expect from our politicians.